International Journal of Political Science and Governance 2025; 7(8): 202-206

E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
IJPSG 2025; 7(8): 202-206
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 06-06-2025
Accepted: 09-07-2025

डॉ. महेश कुमार
शिक्षक, इन्टर स्तरीय स्कूल भवनपुरा खरीक, भागलपुर, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ. महेश कुमार
शिक्षक, इन्टर स्तरीय स्कूल भवनपुरा खरीक, भागलपुर, बिहार, भारत

डॉ. अंबेडकर के सामाजिक चिंतन: न्याय, समता और जाति विमर्श का विश्लेषण

डॉ. महेश कुमार

DOI: https://doi.org/10.33545/26646021.2025.v7.i8c.642

सारांश
भारतीय समाज एक ऐतिहासिक रूप से जटिल, बहुस्तरीय और गहराई से जातिगत ढाँचों में रचा-बसा हुआ समाज है। इसकी सामाजिक संरचना ने न केवल मनुष्य को जन्म के आधार पर विभाजित किया है, बल्कि उसे शोषण, अपमान और वंचना के कठोर दायरे में भी बाँध दिया है। इस व्यवस्था की आलोचना और उसके विरुद्ध संघर्ष करने वालों में डॉ. भीमराव अंबेडकर का स्थान सर्वोपरि है। वे न केवल भारत के संविधान निर्माता के रूप में जाने जाते हैं, बल्कि एक क्रांतिकारी समाजशास्त्री, मानवाधिकार समर्थक और सामाजिक न्याय के अनन्य प्रवक्ता के रूप में भी पहचाने जाते हैं। डॉ. अंबेडकर का सामाजिक चिंतन उस युग में सामने आया जब भारतीय समाज जातिगत उत्पीड़न, छुआछूत, स्त्री-विमर्श और आर्थिक विषमता जैसे मुद्दों से जूझ रहा था। उन्होंने इन प्रश्नों को केवल नैतिक या धार्मिक समस्या नहीं माना, बल्कि उन्हें एक गहरी सामाजिक संरचना का परिणाम बताया। उनका मानना था कि जातिवाद भारतीय समाज की आत्मा में बैठा हुआ है, और जब तक इसे जड़ से समाप्त नहीं किया जाएगा, तब तक सच्चा लोकतंत्र, स्वतंत्रता और समानता स्थापित नहीं हो सकती।
डॉ. अंबेडकर के सामाजिक विचारों की मूल भावना तीन मूलभूत तत्वों न्याय, समता और बंधुत्व में समाहित है। उन्होंने जाति व्यवस्था की कठोर आलोचना करते हुए कहा था कि जाति केवल सामाजिक असमानता का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की गरिमा के विरुद्ध सबसे बड़ा षड्यंत्र है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख जाति का उन्मूलन में जाति-प्रथा को समाप्त करने का आह्वान किया और इसे भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की पूर्वशर्त बताया। डॉ. अंबेडकर का सामाजिक चिंतन केवल नकारात्मक आलोचना तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें एक सृजनात्मक दृष्टिकोण भी विद्यमान था। उन्होंने बौद्ध धर्म को अपनाकर एक नैतिक और समतामूलक वैकल्पिक धार्मिक परिपाटी प्रस्तुत की, जो शोषणविहीन समाज की स्थापना की दिशा में एक ठोस प्रयास था। उनके लिए धर्म का उद्देश्य सामाजिक समानता, नैतिक अनुशासन और करुणा पर आधारित होना चाहिए न कि वर्ण और जाति पर आधारित ऊँच-नीच को बढ़ावा देना।
वर्तमान समय में जब सामाजिक न्याय, दलित अधिकार, स्त्री मुक्ति और आर्थिक समानता जैसे विषय फिर से केंद्र में हैं, डॉ. अंबेडकर के विचार पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। उनका चिंतन न केवल सामाजिक आंदोलनों को प्रेरणा देता है, बल्कि नीतिगत निर्णयों और संवैधानिक व्याख्याओं को भी दिशा प्रदान करता है। यह लेख डॉ. अंबेडकर के सामाजिक चिंतन का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जिसमें उनके दृष्टिकोण की दार्शनिक गहराई, सामाजिक सरोकार और वैचारिक सुसंगतता को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि उन्होंने किस प्रकार सामाजिक विषमता के खिलाफ न केवल विचारों के स्तर पर बल्कि व्यवहारिक और राजनैतिक स्तर पर भी संघर्ष किया। उनके चिंतन की यह विशेषता है कि वह केवल दलितों की मुक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि समस्त भारतीय समाज को एक समावेशी, न्यायपूर्ण और समानाधिकार आधारित व्यवस्था की ओर उन्मुख करने का प्रयास करता है।

कुटशब्द: डॉ.भीमराव अंबेडकर, सामाजिक न्याय, समता, बंधुत्व, जाति व्यवस्था, जाति उन्मूलन, दलित चेतना, मानवाधिकार

प्रस्तावना
डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक दृष्टिकोण केवल सैद्धांतिक अवधारणाओं या अकादमिक विमर्श तक सीमित नहीं था, बल्कि वह पूरी तरह से व्यवहारिक, यथार्थपरक और परिवर्तनकामी था। उन्होंने भारतीय समाज की मूलभूत संरचना का गंभीर अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि जाति व्यवस्था, सामाजिक विषमता और छुआछूत जैसी समस्याएँ केवल धार्मिक आस्था या परंपरा की उपज नहीं हैं, बल्कि वे एक ऐसे सामाजिक ढाँचे का हिस्सा हैं, जो सत्ता, वर्चस्व और उत्पीड़न को बनाए रखने के लिए खड़ा किया गया है। डॉ. अंबेडकर एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जहाँ किसी भी व्यक्ति के साथ जन्म आधारित भेदभाव न हो, बल्कि उसे केवल उसके गुण, श्रम और मानवता के आधार पर परखा जाए।[1] उनके अनुसार समाज को इस प्रकार संगठित किया जाना चाहिए कि उसमें सभी नागरिकों को समान अवसर, गरिमा और अधिकार प्राप्त हों, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म, लिंग, वर्ग या भाषा से संबंधित क्यों न हों। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि अगर समाज में कोई व्यक्ति अपने अधिकारों से वंचित है, तो लोकतंत्र अधूरा है और स्वतंत्रता केवल एक भ्रम है।[2]

अंबेडकर का सामाजिक चिंतन एक साथ बौद्धिक विश्लेषण, नैतिक विवेक और मानवीय करुणा का संयोजन था। वे समाज को केवल वर्गों या जातियों का समूह नहीं मानते थे, बल्कि उसमें अंतर्निहित मानवीय संबंधों, अधिकारों और कर्तव्यों को केंद्रीय स्थान देते थे। उनके चिंतन में धर्म, राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था परस्पर जुड़े हुए तत्व थे, जिन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता।[3] यही कारण है कि उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लिए केवल धार्मिक या नैतिक उपदेशों पर भरोसा नहीं किया, बल्कि विधायी सुधार, संवैधानिक संरक्षण, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे ठोस उपायों की वकालत की। उनका मानना था कि जब तक राज्य नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक अधिकारों की गारंटी नहीं देता, तब तक वह एक न्यायसंगत राज्य नहीं कहा जा सकता। अंबेडकर ने यह भी रेखांकित किया कि समानता केवल कानून की किताबों में नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवहार, संस्थाओं और रोज़मर्रा के जीवन में परिलक्षित होनी चाहिए।[4]

डॉ. अंबेडकर ने सामाजिक न्याय को भारतीय लोकतंत्र की आत्मा माना और यह सुनिश्चित करने के लिए संघर्ष किया कि संविधान एक ऐसे ढाँचे की रचना करे जो न केवल राजनीतिक समानता प्रदान करे, बल्कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को दूर करने की दिशा में भी काम करे।[5] उन्होंने जाति उन्मूलन, स्त्री अधिकार, शिक्षा में समान अवसर, और वंचित वर्गों के लिए आरक्षण जैसे उपायों का समर्थन करते हुए यह साबित किया कि उनका सामाजिक दृष्टिकोण केवल वंचित वर्गों की मुक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि समूचे भारतीय समाज को नैतिक और न्यायसंगत बनाने की दिशा में अग्रसर था। उनका यह दृष्टिकोण आज भी सामाजिक आंदोलनों, नीतियों और वैचारिक संघर्षों में मार्गदर्शक की भूमिका निभा रहा है, और यही कारण है कि अंबेडकर का चिंतन एक ऐतिहासिक विरासत नहीं, बल्कि एक जीवंत और प्रासंगिक विमर्श बना हुआ है।[6]

डॉ. भीमराव अंबेडकर के अनुसार न्याय केवल विधिक या कानूनी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आदर्श है, जो व्यक्ति के आत्म-सम्मान, बराबरी और स्वतंत्रता की रक्षा करता है। वे मानते थे कि जब तक समाज के सभी वर्गों को समान अवसर, सम्मानजनक जीवन और संसाधनों तक समान पहुँच नहीं मिलती, तब तक किसी भी लोकतंत्र में न्याय की संकल्पना अधूरी मानी जाएगी।[7] अंबेडकर का न्याय-दर्शन महज कानून की किताबों में सीमित नहीं था, बल्कि इसका आधार सामाजिक यथार्थ, ऐतिहासिक शोषण और जातिगत असमानताओं के विरुद्ध एक प्रभावी जवाब था। उनके अनुसार "न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का ही दूसरा नाम है।"[8] यानी जब तक इन तीन मूल्यों की स्थापना नहीं होती, तब तक न्याय की संपूर्ण प्राप्ति नहीं मानी जा सकती। उन्होंने भारतीय संविधान की प्रस्तावना में "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय" को स्पष्ट रूप से स्थापित किया, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे, बल्कि वे समाज के वंचित तबकों को सशक्त बनाने हेतु एक समतामूलक व्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता को महसूस करते थे। अंबेडकर ने यह कहा था कि न्याय की संकल्पना केवल निष्पक्षता नहीं है, बल्कि यह सक्रिय हस्तक्षेप की माँग करती है,[9] जिससे ऐतिहासिक अन्याय की भरपाई की जा सके। उनका यह दृष्टिकोण इस बात पर आधारित था कि सदियों तक दलितों और शोषित वर्गों को सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक क्षेत्रों में जानबूझकर पीछे रखा गया था, और अब उन्हें बराबरी पर लाने के लिए केवल कानूनन समानता पर्याप्त नहीं, बल्कि व्यावहारिक समानता भी आवश्यक है।[10]

डॉ. अंबेडकर के अनुसार न्याय तभी संभव है जब समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति आत्म-सम्मान के साथ जीवन जी सके और अपनी योग्यता के अनुसार विकास के अवसर प्राप्त कर सके। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि केवल 'विधि के समक्ष समानता' एक खोखला आदर्श है यदि समाज में व्यावहारिक जीवन में असमानताएँ व्याप्त हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने आरक्षण, शिक्षा का अधिकार, प्रतिनिधित्व और भूमि सुधार जैसे उपायों के माध्यम से सामाजिक न्याय की अवधारणा को व्यवहार में लाने का प्रयास किया।[11] उनका यह दृष्टिकोण 'न्याय का निवारक सिद्धांत' था, जो यह मानता है कि यदि ऐतिहासिक रूप से कोई समूह शोषण का शिकार रहा है, तो उसे विशेष सहायता और संरक्षण मिलना चाहिए। इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर का न्याय-दर्शन केवल संविधान निर्माण की प्रक्रिया का हिस्सा नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की एक ठोस योजना थी, जो शोषितों, दलितों और महिलाओं जैसे वंचित वर्गों को सशक्त बनाकर एक न्यायपूर्ण, समतामूलक और लोकतांत्रिक समाज की स्थापना का माध्यम बना। उनका यह विचार आज भी केवल भारत में ही नहीं, बल्कि वैश्विक मानवाधिकार और सामाजिक न्याय की अवधारणाओं में प्रेरणा का स्रोत है।[12]

डॉ. भीमराव अंबेडकर के संपूर्ण चिंतन और कार्य का केंद्रबिंदु *समता* था, जिसे उन्होंने केवल एक संवैधानिक या विधिक सिद्धांत नहीं, बल्कि सामाजिक पुनर्निर्माण का आधार माना। उनका मानना था कि जब तक समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार, अवसर, प्रतिष्ठा और संसाधनों तक पहुँच सुनिश्चित नहीं की जाती, तब तक किसी भी लोकतंत्र की सफलता अधूरी मानी जाएगी। उन्होंने बार-बार यह दोहराया कि *"समता भले ही एक कल्पना हो सकती है, फिर भी इसे शासन के एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करना ही चाहिए।",* अर्थात समता भले ही एक काल्पनिक विचार प्रतीत हो, लेकिन इसे सामाजिक जीवन का आधार बनाना अनिवार्य है। उनके अनुसार, समता के बिना स्वतंत्रता एक विशेषाधिकार बन जाती है और लोकतंत्र एक ढकोसला।[13] डॉ. अंबेडकर का यह दृष्टिकोण भारतीय समाज की ऐतिहासिक असमानताओं के विश्लेषण पर आधारित था। उन्होंने देखा कि भारतीय समाज में जन्म आधारित जाति व्यवस्था ने करोड़ों लोगों को सदियों तक शिक्षा, संपत्ति, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रखा है। इसलिए वे केवल 'कानून की निगाह में बराबरी' को पर्याप्त नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि जब तक सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक क्षेत्रों में समानता नहीं लाई जाती, तब तक संवैधानिक समानता भी केवल दिखावा बनकर रह जाती है।[14]

इसीलिए डॉ. अंबेडकर ने आरक्षण नीति का समर्थन किया, ताकि दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों को शिक्षा और नौकरियों में प्रतिनिधित्व मिल सके। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह आरक्षण कोई विशेषाधिकार नहीं, बल्कि *ऐतिहासिक अन्याय की पूर्ति का एक साधन* है। साथ ही, उन्होंने संपत्ति के पुनर्वितरण की बात की, जिससे समाज में मौजूद आर्थिक असमानता को समाप्त किया जा सके। उनका मानना था कि जब तक संसाधनों का न्यायपूर्ण बँटवारा नहीं होगा, तब तक समता की अवधारणा अधूरी रहेगी। इसके अलावा उन्होंने शिक्षा के सार्वभौमिक अधिकार को सामाजिक समता का सबसे प्रभावी औजार माना। उनका यह कथन प्रसिद्ध है: "शिक्षा शोषित वर्गों के लिए स्वतंत्रता का प्रथम कदम है।" वे चाहते थे कि हर बच्चे को चाहे उसका सामाजिक या आर्थिक वर्ग कोई भी हो, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त हो।[15] डॉ. अंबेडकर का समता संबंधी आग्रह केवल भारत तक सीमित नहीं था, बल्कि उनके विचारों में *मानवतावाद और वैश्विक दृष्टिकोण* भी स्पष्ट दिखाई देता है। वे समता को केवल सामाजिक पुनर्गठन का उपकरण नहीं मानते थे, बल्कि उसे *मानव गरिमा, आत्म-सम्मान और स्वाभिमान* से भी जोड़ते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यदि किसी व्यक्ति को केवल इसलिए निम्न समझा जाता है क्योंकि उसका जन्म किसी तथाकथित नीची जाति में हुआ है, तो यह मानवता का अपमान है। इस प्रकार समता उनके लिए केवल एक राजनैतिक मुद्दा नहीं था, बल्कि *नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य* भी था।[16] उन्होंने भारत के संविधान की प्रस्तावना में "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय" तथा "व्यक्ति की गरिमा" और "समानता" को मूलभूत मूल्य के रूप में स्थापित कर इस विचार को विधिक मान्यता भी दिलाई। यह उनकी दूरदृष्टि थी कि उन्होंने लोकतंत्र को केवल बहुमत का शासन नहीं माना, बल्कि *सामाजिक जीवन का एक नैतिक आदर्श* माना, जिसकी नींव समता पर ही टिकी है।[17]अंबेडकर का समता संबंधी आग्रह एक क्रांतिकारी सोच थी, जो न केवल भारतीय समाज की गहराई से व्याख्या करता है, बल्कि उसे बदलने की दिशा भी दिखाता है। उनका यह विचार आज भी केवल भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में *मानवाधिकारों, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों* के संदर्भ में प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। उनके विचार यह स्पष्ट करते हैं कि जब तक समाज के अंतिम व्यक्ति को गरिमापूर्ण जीवन जीने का अवसर नहीं मिलता, तब तक किसी राष्ट्र की प्रगति अधूरी है।[18]

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने *जाति व्यवस्था* को भारतीय समाज की सबसे बड़ी सामाजिक बुराई और अन्याय का स्रोत माना। उनके अनुसार, जाति-प्रथा केवल सामाजिक असमानता की प्रणाली नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा *धार्मिक रूप से वैध ठोस ढांचा* है, जिसने मनुष्य को जन्म के आधार पर विभाजित कर दिया है और सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक प्रगति में गंभीर बाधा उत्पन्न की है। उन्होंने बार-बार यह कहा कि जब तक जाति व्यवस्था कायम है, *तब तक भारत में सच्चा लोकतंत्र असंभव है*। उनके शब्दों में, "जाति व्यवस्था न केवल मनुष्य की गरिमा का अपमान करती है, बल्कि यह नैतिकता, बंधुत्व और सामाजिक समरसता को भी नष्ट कर देती है।"[19] डॉ. अंबेडकर का जाति विमर्श केवल आलोचना तक सीमित नहीं था, बल्कि वे इसके मूल स्रोतों और संरचनात्मक स्वरूप को गहराई से समझते थे और इसके समाधान के लिए *सैद्धांतिक, कानूनी और नैतिक* तीनों स्तरों पर ठोस विकल्प प्रस्तुत करते थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना *"जाति का उन्मूलन" (1936)* में जाति व्यवस्था की कठोर आलोचना करते हुए इसे सामाजिक बंधुत्व और लोकतांत्रिक मूल्यों के विरुद्ध बताया। उन्होंने साफ कहा कि जाति व्यवस्था केवल हिंदू धर्म का हिस्सा नहीं है, बल्कि यह एक *मानसिकता* बन चुकी है, जो समाज में ऊँच-नीच और शोषण को वैधता देती है। उनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ जैसे *"शूद्र कौन थे?" और "रुपये की समस्या"* में भी उन्होंने सामाजिक असमानता के ऐतिहासिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं का गहन विश्लेषण किया।[20] अंबेडकर ने तर्क दिया कि शूद्रों और अछूतों की स्थिति केवल सामाजिक उपेक्षा का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह *सुनियोजित वैदिक और स्मृतिपरक ग्रंथों के आधार पर निर्मित संरचना* थी, जिसे बदलने के लिए केवल कानून नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना और नैतिक क्रांति आवश्यक है। जाति व्यवस्था के समाधान के रूप में अंबेडकर ने जाति पर आधारित सामाजिक संरचना के पूर्ण उन्मूलन की माँग की। वे चाहते थे कि *समाज व्यक्ति की योग्यता और मानवीय गरिमा के आधार पर संगठित हो, न कि जन्म या जाति के आधार पर।* उन्होंने संविधान में अस्पृश्यता के उन्मूलन और आरक्षण जैसी नीतियों को जातिगत असमानता को समाप्त करने के साधन के रूप में प्रस्तुत किया।[21]

डॉ. अंबेडकर ने न केवल वैचारिक संघर्ष किया, बल्कि उन्होंने *बौद्ध धर्म को अपनाकर* एक नैतिक और सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म को अपनाया, ताकि एक *नवीन सामाजिक व्यवस्था* की नींव रखी जा सके ऐसी व्यवस्था जो समता, करुणा और ज्ञान पर आधारित हो, और जो जातिवाद के जहर से मुक्त हो। उन्होंने कहा, "मैं हिंदू धर्म को इसलिए छोड़ रहा हूँ क्योंकि इसमें इंसान की गरिमा और समता का कोई स्थान नहीं है।" इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर का जाति विमर्श केवल विरोध का प्रतीक नहीं, बल्कि *रचनात्मक परिवर्तन की व्यापक योजना* भी था। उन्होंने जाति उन्मूलन को भारतीय समाज के नैतिक, लोकतांत्रिक और मानवतावादी पुनर्निर्माण की अनिवार्य शर्त माना। उनका यह चिंतन आज भी भारत में सामाजिक न्याय और समानता की लड़ाई लड़ने वालों के लिए *दिशा और प्रेरणा* का स्रोत बना हुआ है।[22]

डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकार केवल एक धार्मिक या आध्यात्मिक निर्णय नहीं था, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक आंदोलन की शुरुआत थी, जो भारतीय समाज में व्याप्त जातिवादी ढांचे को जड़ से हिलाने के उद्देश्य से उठाया गया एक क्रांतिकारी कदम था। 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में जब उन्होंने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तो यह घटना न केवल एक धार्मिक परिवर्तन थी, बल्कि सामाजिक मुक्ति का उद्घोष भी थी।[23] अंबेडकर ने बौद्ध धर्म को अपनाते हुए स्पष्ट किया कि उनका यह निर्णय तर्क, न्याय और नैतिकता पर आधारित है, न कि किसी अंधश्रद्धा या पारंपरिक विश्वास के कारण। डॉ. अंबेडकर का मानना था कि हिन्दू धर्म का जाति-व्यवस्था आधारित ढांचा दलितों को समानता और सम्मान से वंचित करता है। इसलिए उन्होंने उस धर्म को त्यागा जो उन्हें नीच, अछूत और अपवित्र मानता था और उस धर्म को अपनाया जिसमें सबको मानवता के आधार पर देखा जाता है।[24] बौद्ध धर्म उनके लिए मुक्ति का माध्यम था – एक ऐसा मार्ग, जिसमें न तो ब्राह्मणवादी कर्मकांड था, न जाति का बंधन, और न ही किसी प्रकार की सामाजिक हीनता। उन्होंने यह भी कहा कि "मैं हिंदू धर्म का त्याग तो कर रहा हूँ, परंतु कोई भी ऐसा धर्म अपनाऊँगा जो मानवता, समानता और स्वतंत्रता को स्वीकार करता हो।"[25] बौद्ध धर्म की मूल शिक्षाएँ – प्रज्ञा (ज्ञान), शील (नैतिकता) और करुणा (दया) – अंबेडकर के सामाजिक दर्शन के अनुकूल थीं। बुद्ध का यह धर्म, उनके अनुसार, कर्मवाद और पुनर्जन्म के पाखंड से अधिक एक नैतिक क्रांति का मार्ग था, जहाँ मनुष्य स्वयं अपने आचरण, विवेक और सामाजिक योगदान से श्रेष्ठता प्राप्त करता है। बौद्ध धर्म में न तो कोई जन्मजात श्रेष्ठता है, न ही कोई जन्मजात हीनता। यही कारण था कि अंबेडकर ने इसे 'धम्म' कहा, जिसका अर्थ है – धर्म नहीं, बल्कि नैतिक अनुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व।[26] बौद्ध धर्म में अंबेडकर को एक ऐसा दर्शन मिला जिसमें करुणा के साथ-साथ सामाजिक सक्रियता की प्रेरणा भी थी। बुद्ध के जीवन और उपदेशों में उन्होंने उस मानवीयता की झलक देखी जो उन्हें हिन्दू धर्म में कभी प्राप्त नहीं हुई थी। उन्होंने बुद्ध के नव धर्म को 'नवयान बौद्ध धर्म' का नाम दिया, जो विशुद्ध रूप से तर्कसंगत, वैज्ञानिक और सामाजिक न्याय आधारित था। अंबेडकर का यह विचार था कि बौद्ध धर्म समाज में परिवर्तन लाने का माध्यम बन सकता है – न केवल दलितों के लिए, बल्कि संपूर्ण भारत के लिए।[27] अंततः, डॉ. अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म की स्वीकृति एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रतीक थी। उन्होंने इसे सामाजिक समरसता, आत्मगौरव और आत्मनिर्भरता की भावना से जोड़ा। यह कदम भारत के इतिहास में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना बनी जिसने धर्म को शोषण का माध्यम नहीं, बल्कि मुक्ति और समानता का उपकरण बना दिया। उनका यह निर्णय आज भी दलित आंदोलन, सामाजिक न्याय और बौद्ध नवजागरण का मूल स्तंभ बना हुआ है।[28]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का विचार-संसार आज के भारत के लिए जितना जरूरी है, उतना शायद उनके जीवनकाल में भी नहीं रहा होगा। जिस जातिविहीन, समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज का सपना उन्होंने देखा था, वह अभी तक पूर्णतः साकार नहीं हो पाया है। आज भी भारत के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को भेदभाव, अत्याचार और अवसरों की असमानता का सामना करना पड़ता है।[29] ऐसे में अंबेडकर के विचार न केवल सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए, बल्कि प्रशासनिक नीतियों, शैक्षणिक दिशा-निर्देशों और राजनीतिक निर्णयों में भी मार्गदर्शन करने वाले सिद्ध होते हैं। डॉ. अंबेडकर का संविधान-निर्माण का कार्य आज के लोकतांत्रिक भारत की आधारशिला है। उन्होंने न केवल राजनीतिक स्वतंत्रता की बात की, बल्कि सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता को भी नागरिक अधिकारों का मूलभूत अंग माना। आज जब संविधान की मूल भावना को चुनौतियाँ मिल रही हैं चाहे वह धर्मनिरपेक्षता हो, सामाजिक न्याय हो या समानता का अधिकार तब अंबेडकर के विचार पुनः नए जोश और विवेक के साथ सामने आते हैं।[30]

आरक्षण की नीति, जिसे आज कुछ लोग विवादास्पद मानते हैं, उसकी नींव अंबेडकर ने सामाजिक बराबरी के सिद्धांत पर रखी थी। उन्होंने इसे केवल दलितों के लिए नहीं, बल्कि हर उस वंचित वर्ग के लिए आवश्यक बताया था जो ऐतिहासिक अन्याय का शिकार रहा है।[31] उनका दृष्टिकोण एक 'लेवल प्लेइंग फील्ड' के निर्माण की ओर था, जिसमें हर व्यक्ति को समान अवसर मिले। आज जब शिक्षा और रोजगार में असमानता बढ़ रही है, तब अंबेडकर की आरक्षण-नीति और सामाजिक न्याय संबंधी विचार और अधिक प्रासंगिक हो जाते हैं। साथ ही, महिलाओं के अधिकारों के संबंध में भी अंबेडकर का योगदान आज भी अनुकरणीय है। उन्होंने 'हिंदू कोड बिल' के माध्यम से महिलाओं को संपत्ति के अधिकार, विवाह और तलाक में स्वतंत्रता देने की जो पहल की, वह आज के लैंगिक समानता आंदोलन की पूर्वपीठिका मानी जाती है।[32]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का चिंतन किसी एक राष्ट्र, वर्ग या समुदाय तक सीमित नहीं है, बल्कि वह मानवता के सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है जो विश्व स्तर पर सामाजिक न्याय, जाति-विहीनता, और मानवाधिकारों के संघर्षों को मार्गदर्शन प्रदान करता है। उनका सामाजिक विमर्श न केवल भारत के भीतर, बल्कि अफ्रीका के नस्लविरोधी आंदोलनों, अमेरिका के सिविल राइट्स मूवमेंट, और यूरोप के सामाजिक समता के प्रयासों के साथ भी विचार-साम्यता रखता है। जाति, वर्ण और वर्ग की बेड़ियों को तोड़कर एक

समतामूलक और न्याययुक्त समाज की स्थापना की उनकी अवधारणा आज उन सभी देशों के लिए भी प्रेरणादायक है, जहाँ जातीय, नस्ली या सांस्कृतिक भेदभाव मौजूद हैं। डॉ. अंबेडकर का दृष्टिकोण मानवाधिकारों की उस परिकल्पना को मूर्त करता है जिसमें व्यक्ति की गरिमा, उसकी स्वतंत्रता, और उसकी सामाजिक-आर्थिक उन्नति को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। विशेष रूप से उनके द्वारा 1956 में बौद्ध धर्म को स्वीकार करना केवल धार्मिक परिवर्तन नहीं था, बल्कि वह एक गहन आत्मघोषणा थी - जिसमें उन्होंने न केवल ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था का अस्वीकार किया, बल्कि यह उद्घोषणा की कि आत्म-सम्मान और सामाजिक मुक्ति का मार्ग केवल धर्मांतरण से नहीं, बल्कि आत्मचेतना और नैतिक परिवर्तन से होकर जाता है। उनका यह निर्णय पूरे दलित समाज के लिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आत्मसम्मान के सूत्र की तरह था, जिसने उन्हें ऐतिहासिक गुलामी से बाहर निकलने का साहस दिया। यह धर्म परिवर्तन एक सामाजिक क्रांति थी, जिसमें उन्होंने करुणा, समता और विवेक की बौद्ध शिक्षाओं को एक वैकल्पिक सामाजिक नैतिकता के रूप में प्रस्तुत किया। आज जब भारत जातीय हिंसा, धार्मिक ध्रुवीकरण, राजनीतिक अवसरवादिता, सामाजिक बहिष्करण और आर्थिक विषमता जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब अंबेडकर का दर्शन एक दीपस्तंभ की भाँति हमारी दिशा तय करता है। उनका चिंतन केवल दलित समाज की मुक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र के आत्मिक और संवैधानिक पुनर्निर्माण की मूल आधारशिला है। उनका प्रसिद्ध नारा *"शिक्षित बनो, संगठित होओ, संघर्ष करो"* आज केवल एक प्रेरक उद्धरण नहीं है, बल्कि यह एक जीवंत सामाजिक रणनीति है जो समावेशी लोकतंत्र की स्थापना के लिए अनिवार्य है। इसमें शिक्षा को जागरूकता का हथियार, संगठन को सामाजिक शक्ति का माध्यम, और संघर्ष को परिवर्तन की प्रेरणा के रूप में देखा गया है। आज के संदर्भ में यह नारा प्रत्येक भारतीय के लिए उतना ही प्रासंगिक है जितना स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान था। यह केवल वंचित समुदायों के लिए नहीं, बल्कि हर उस व्यक्ति के लिए आह्वान है जो एक न्यायपूर्ण और बराबरी पर आधारित समाज की कल्पना करता है।[33]

यदि भारत को सचमुच एक समतामूलक, सशक्त और नैतिक राष्ट्र बनाना है, तो अंबेडकर के विचारों को केवल पुस्तकालयों और स्मारकों में नहीं, बल्कि युवा पीढ़ी के मस्तिष्क और नीति-निर्माताओं की सोच में स्थापित करना होगा। आज की बुद्धिजीवी पीढ़ी, शिक्षाविद्, प्रशासनिक अधिकारी, और आम नागरिक यदि अंबेडकर की विचारधारा को केवल स्मरण ही नहीं, बल्कि आत्मसात करें - तो भारत न केवल एक मजबूत लोकतंत्र बन सकता है, बल्कि वैश्विक स्तर पर एक सामाजिक न्याय आधारित आदर्श राष्ट्र के रूप में उभर सकता है। डॉ. अंबेडकर का चिंतन किसी अतीत के स्मृति-चित्र की तरह नहीं, बल्कि आज के जटिल सामाजिक यथार्थ से निरंतर संवाद करता हुआ एक सक्रिय चेतना है जो प्रश्न भी करता है, विकल्प भी देता है और समाधान भी सुझाता है। इसलिए समकालीन भारत में डॉ. अंबेडकर की प्रासंगिकता न केवल बनी हुई है, बल्कि वह दिन-प्रतिदिन और अधिक गहराई, व्यापकता और शक्ति के साथ उभर रही है। उनके विचारों को यदि सही अर्थों में आत्मसात किया जाए, तो भारत एक ऐसा राष्ट्र बन सकता है, जहाँ हर नागरिक को न केवल संवैधानिक अधिकार प्राप्त हों, बल्कि वह अपने सामाजिक परिवेश में गरिमा और समानता के साथ जीवन जी सके।[34]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक चिंतन भारतीय समाज के लिए मात्र एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण या सीमित वर्ग का घोषणापत्र नहीं है, बल्कि यह समस्त भारतवासियों के लिए एक नैतिक, बौद्धिक और संवैधानिक जागरण का आह्वान है। अंबेडकर ने उस समय अपनी आवाज़ बुलंद की जब भारत सामाजिक अन्याय, जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता और आर्थिक शोषण की जटिलताओं में उलझा हुआ था। उन्होंने जाति व्यवस्था को केवल सामाजिक ऊँच-नीच की समस्या न मानकर उसे मानवाधिकारों के सार्वभौमिक उल्लंघन के रूप में देखा और यह तर्क दिया कि जब तक समाज में जाति के आधार पर ऊँच-नीच और भेदभाव कायम रहेगा, तब तक स्वतंत्रता केवल विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों तक सीमित रहेगी। उन्होंने न केवल अस्पृश्यता और जातिगत अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाई, बल्कि उन्होंने ऐसे संस्थागत उपाय भी सुझाए जो समतामूलक समाज की स्थापना की दिशा में ठोस कदम साबित हो सकें। भारतीय संविधान के शिल्पकार के रूप में उन्होंने "न्याय, समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व" को संविधान की मूल आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया और यह स्पष्ट किया कि केवल राजनीतिक अधिकार देना पर्याप्त नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक समानता सुनिश्चित करना अनिवार्य है। उनके लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल बहुमत का शासन नहीं था, बल्कि यह एक नैतिक और सामाजिक व्यवस्था थी, जहाँ हर व्यक्ति को सम्मान, अवसर और गरिमा प्राप्त हो। उनका यह कथन कि "राजनीतिक लोकतंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह सामाजिक लोकतंत्र से जुड़ा न हो" आज भी भारतीय लोकतंत्र के लिए एक सजीव चेतावनी है। उन्होंने यह भी कहा था कि यदि सामाजिक न्याय नहीं होगा तो लोकतांत्रिक व्यवस्था केवल नाम की रह जाएगी और बहुसंख्यक वर्गों के शोषण का माध्यम बन जाएगी। शिक्षा को उन्होंने सबसे प्रभावी हथियार माना, जिससे वंचित वर्ग आत्मबोध, आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकता है। उन्होंने "शिक्षित बनो, संगठित होओ, संघर्ष करो" का नारा देकर समाज के हाशिये पर पड़े वर्गों को न केवल प्रेरणा दी, बल्कि संघर्ष के मार्ग पर सशक्त रूप से आगे बढ़ने का साहस भी दिया। उनका यह विचार अत्यंत मौलिक था कि केवल व्यक्तिगत उन्नति पर्याप्त नहीं, बल्कि सामूहिक उत्थान और सामाजिक पुनर्गठन ही सच्चे सामाजिक परिवर्तन की दिशा में ठोस कदम है।

डॉ. अंबेडकर ने यह महसूस किया कि जब तक धर्म का आधार समता, नैतिकता और करुणा नहीं होगा, तब तक वह समाज को जोड़ने के बजाय विभाजित करने का कार्य करता रहेगा। इसीलिए उन्होंने 1956 में बौद्ध धर्म अपनाया, जिसमें उन्होंने न केवल व्यक्तिगत धार्मिक आस्था जताई, बल्कि यह सामाजिक विद्रोह और नैतिक पुनर्निर्माण की घोषणा भी थी। उनके अनुसार बौद्ध धर्म वह माध्यम था जो दलितों को गरिमा, ज्ञान और न्याय दिला सकता था—बिना किसी सामाजिक कलंक या कर्म-सिद्धांत के फंदे के। आज जब भारतीय समाज जातिगत हिंसा, सामाजिक विषमता, आर्थिक असमानता और राजनीतिक अवसरवादिता के संकटों से जूझ रहा है, तब अंबेडकर का चिंतन और अधिक प्रासंगिक हो गया है। सामाजिक न्याय की संस्थाएं, संवैधानिक अधिकारों की रक्षा, और समान अवसर की अवधारणा ये सभी डॉ. अंबेडकर की दूरदृष्टि से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उनके विचार केवल एक वर्ग विशेष की मुक्ति तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे एक समावेशी, समतामूलक और संवैधानिक राष्ट्र के निर्माण की आधारशिला हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि जब तक समाज के सबसे निचले व्यक्ति को भी वही अधिकार, वही सम्मान और वही अवसर नहीं मिलता जो समाज के किसी विशेष वर्ग को प्राप्त है, तब तक भारत सच्चे अर्थों में स्वतंत्र और लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता। अंबेडकर का चिंतन आज केवल अनुस्मारक नहीं, बल्कि क्रियाशील प्रेरणा है जो भारत को एक न्यायसंगत और समतामूलक राष्ट्र बनाने की दिशा में लगातार प्रेरित करता है। उनके विचारों में समाहित नैतिक ऊर्जा, तार्किक स्पष्टता और संवैधानिक प्रतिबद्धता आज भी भारत के लिए एक 'संवैधानिक धर्म' की तरह है, जो हमें यह सिखाता है कि बिना सामाजिक समानता के कोई भी प्रगति अधूरी, अस्थायी और अन्यायपूर्ण होगी।

संदर्भ

1. अंबेडकर, भीमराव, जाति का उन्मूलन, नई दिल्ली, 2016, पृ.12–45.
2. अंबेडकर, भीमराव, बुद्ध और उनका धर्म, नागपुर, 1957, पृ.88–90.
3. ओमवेद्त, गेल, अंबेडकर: टुवर्ड्स एन इनलाइटेन्ड इंडिया, नई दिल्ली, 2008, पृ.101–103.
4. कुमार, सतीश, डॉ. भीमराव अंबेडकर: एक सामाजिक क्रांतिकारी, दिल्ली, 2014, पृ.67–69.
5. झेलियट, एलेनॉर, फ्रॉम अनटचेबल टू दलित: एसेज़ ऑन द अंबेडकर मूवमेंट, नई दिल्ली, 1992, पृ.49.
6. रोड्रिग्स, वैलेरियन (संपा.), दि एसेंशियल राइटिंग्स ऑफ बी.आर. अंबेडकर, नई दिल्ली, 2002, पृ.215.
7. अंबेडकर, भीमराव, पूर्वोक्त, 2016, पृ.35.

8. अंबेडकर, भीमराव, भारत का संविधान: निर्माण और उद्देश्य, कोलकाता, 2015, पृ.30.
9. ओमवेट, गेल, आंबेडकर:, पूर्वोक्त, पृ.65.
10. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, डॉ. आंबेडकर और दलित आंदोलन, रानीखेत, 2007, पृ.93.
11. कुमार, रत्न, डॉ. आंबेडकर और सामाजिक न्याय, नई दिल्ली, 2010, पृ.58.
12. अय्यर, लक्ष्मी, भारतीय लोकतंत्र और आंबेडकर का न्याय सिद्धांत, नई दिल्ली, 2012, पृ.45.
13. अंबेडकर, भीमराव, पूर्वोक्त, 2016, पृ.25.
14. अंबेडकर, भीमराव, शूद्र कौन थे?, मुंबई, 2014, पृ.93.
15. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, पूर्वोक्त, पृ.113.
16. ओमवेट, गेल, पूर्वोक्त, पृ.87.
17. कुमार, रत्न, पूर्वोक्त, पृ.62.
18. प्रसाद, अवधेश, आंबेडकर का सामाजिक दर्शन, वाराणसी, 2012, पृ.35.
19. अंबेडकर, भीमराव, पूर्वोक्त, 2016, पृ.37.
20. अंबेडकर, भीमराव, पूर्वोक्त, 2014, पृ.103.
21. ओमवेट, गेल, पूर्वोक्त, पृ.107.
22. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, पूर्वोक्त, पृ.148.
23. प्रसाद, अवधेश, पूर्वोक्त, पृ.68.
24. कुमार, रत्न, पूर्वोक्त, पृ.49.
25. अंबेडकर, भीमराव, भगवान बुद्ध और उनका धम्म, नई दिल्ली, 2012, पृ.284.
26. ओमवे, नागार्जुन, डॉ. अंबेडकर और नवयान आंदोलन, दिल्ली, 2005, पृ.89.
27. जोशी, शरद पाटिल, अंबेडकरवाद और बौद्ध धर्म, मुंबई, 1998, पृ.111.
28. जैसवाल, सुरेश कुमार, डॉ. अंबेडकर का सामाजिक दर्शन, पटना, 2010, पृ.167.
29. अंबेडकर, भीमराव, पूर्वोक्त, 2016, पृ.77.
30. ओमवेद्त, गेल, अंबेडकर: एक क्रांतिकारी जीवन, नई दिल्ली, 2020, पृ.223.
31. आनंद, सी., डॉ. अंबेडकर और आधुनिक भारत, दिल्ली, 2018, पृ.143.
32. दुबे, एस.सी., भारतीय समाज और डॉ. अंबेडकर, नई दिल्ली, 2017, पृ.88–90.
33. बर्नेट, फ्रैंक, डॉ. भीमराव अंबेडकर: विचार और प्रभाव, कोलकाता, 2015, पृ.105–106.
34. मल्लिका, वी., डॉ. अंबेडकर का संवैधानिक दृष्टिकोण, हैदराबाद, 2019, पृ.102.